सम्यक् चारित्र

पं० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

स्वरूप

आचार्य कुन्दकुन्द ने मोह और क्षोभ अर्थात् दर्शनमोह और चारित्रमोह, इनसे रहित आत्म-परिणति को चारित्र कहा है। नामान्तर से उसे 'धर्म' व 'सम' भी कहा गया है। अभिप्राय यह हुआ कि सम्यग्दर्शन और उसके अविनाभावी सम्यग्ज्ञान के साथ समस्त इष्टानिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष न करना—यह 'चारित्र' है।[1]

इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए आचार्य समन्तभद्र ने भी कहा है कि मोह (दर्शनमोह-मिथ्यात्व) के विनष्ट हो जाने पर, सम्यग्दर्शन के प्राप्त हो जाने से जिसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान रूप में परिणत हो गया है, वह मुमुक्षु भव्य, राग-द्वेष की निवृत्ति के लिए, चारित्र को स्वीकार करता है।[2]

आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र के पर्यायवाची जिस धर्म का उल्लेख किया है, स्वामी समन्तभद्र ने उसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप ही कहा है, उसे ही कर्मनाशक एवं निर्बाध व निराकुल सुख के स्थानभूत मोक्ष को प्राप्त कराने वाला निर्दिष्ट किया है।[3]

श्रमण की सम-स्वरूपता को स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार में कहा गया है कि—श्रमण शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, प्रशंसा-निन्दा, मिट्टी सुवर्ण तथा जीवन व मरण—इन सब में सम—हर्ष-विषाद से रहित—होता है।[4]

पुरुष का प्रयोजन स्थिर आत्मस्वरूप को प्राप्त करना है। वह तब सिद्ध होता है जब प्राणी विपरीत अभिप्राय (मिथ्यात्व) को छोड़कर यथार्थरूप में आत्मा के स्वरूप का निश्चय करता हुआ, उससे विचलित नहीं होता है। इसे अमृतचन्द्र सूरि ने पुरुषार्थ-सिद्धि (मुक्ति) का उपाय बताया है।[5]

इसका भी यही अभिप्राय है कि जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ राग-द्वेष के परिहारपूर्वक निश्चल आत्मस्वरूप में अवस्थित होता है, वह अपने प्रयोजन को सिद्ध कर लेता है।

आगे पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में प्रकृत रत्नत्रय के स्वरूप को इस प्रकार अभिव्यक्त किया गया है—आत्मा के निश्चय को सम्यग्दर्शन, उसी आत्मा के अवबोध को सम्यग्ज्ञान, और उसी आत्मा में स्थिर होने को सम्यक्चारित्र कहा जाता है। ये कर्मबन्ध के अभाव के कारण होकर, संवर और निर्जरा के कारण हैं। इसका कारण यह है कि प्रदेशबन्ध योग से, और स्थितिबन्ध कषाय से हुआ करता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र—ये तीनों न योग-रूप हैं और न कषाय-रूप भी हैं। अतएव उनसे बन्ध की सम्भावना ही कैसे की जा सकती है ?[6]

स्वामी समन्तभद्र ने उपर्युक्त निश्चल आत्मस्वरूप की प्राप्ति को आत्यन्तिक स्वास्थ्य बताते हुए, उसे ही आत्मा का प्रयोजन निर्दिष्ट किया है। इसका कारण यह है कि क्षणभंगुर इन्द्रियजनित सुखोपभोग तो उत्तरोत्तर तृष्णा का संवर्धक होने से सन्ताप का ही जनक है, शाश्वतिक सुख का वह कभी कारण नहीं हो सकता।[7]

---

१. प्रवचनसार, १/७
२. रत्नकरण्ड, ४७
३. रत्नकरण्ड, २/३
४. प्रवचनसार, ३/४१
५. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १५
६. वही, २१५-१६
७. स्वयंभूस्तोत्र, ३१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संयम की समानार्थकता

'संयम' यह उक्त चारित्र का प्रायः समानार्थक शब्द है।[1] संयम के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थवार्तिक में कहा गया है कि व्रतों के धारण, समितियों के परिपालन, कषायों के निग्रह, मन-वचन-काय की दुष्प्रवृत्तिरूप दण्डों के त्याग और इन्द्रियों के जय का नाम संयम है।[2]

यही संयम का स्वरूप धवला में भी एक प्राचीन गाथा को उद्धृत करते हुए निर्दिष्ट किया गया है। वहां इतना विशेष स्पष्ट किया गया है कि 'संयम' में उपर्युक्त 'सं' शब्द से द्रव्ययम—सम्यग्दर्शन से रहित महाव्रत—का निषेध कर दिया गया है। आगे वहां संयत के स्वरूप का निर्देश करते हुए यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के अनुसार जो यत हैं—अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह से विरत हैं—वे 'संयत' कहलाते हैं।[3]

आचार्य कुन्दकुन्द ने उसी श्रमण को संयत कहा है जो पांच समितियों का पालन करता है, तीन गुप्तियों के द्वारा आत्मा का पापाचरण से संरक्षण करता है, पांचों इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखता है, कषायों पर विजय प्राप्त कर चुका है, शत्रु व मित्र आदि में समभाव रखता है; तथा एकाग्रतापूर्वक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र इन तीनों के एक साथ आराधन में उद्यत रहता है। ऐसा ही 'संयत' परिपूर्ण श्रामण्य (निर्ग्रन्थता) का स्वामी होता है। इसके विपरीत, जो अन्य द्रव्य का आश्रय लेकर राग, द्वेष और मोह को प्राप्त होता है, वह अज्ञानी होकर अनेक प्रकार के कर्मों से सम्बद्ध होता है। कर्मों के क्षय का कारण तो अन्य पदार्थों में राग, द्वेष और मोह का अभाव ही है।[4]

चारित्र के साथ सम्यग्दर्शन की अनिवार्यता

'दर्शन-प्राभृत' में चारित्रस्वरूप धर्म को दर्शन-मूलक कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मूल (जड़) के बिना वृक्ष स्थिर नहीं रह सकता, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र स्थिर नहीं रह सकता। आगे वहां यह स्पष्ट कर दिया गया है कि दर्शन से जो भ्रष्ट हैं वे भ्रष्ट ही हैं, वे कभी निर्वाण को प्राप्त नहीं हो सकते। इसके विपरीत, जो चारित्र से भ्रष्ट हैं, वे यथासमय निर्वाण को प्राप्त कर लेने वाले हैं (इसके लिए आचार्य समन्तभद्र को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है)। सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव अनेक प्रकार के शास्त्रों में पारंगत होने पर भी, सम्यग्दर्शन-आराधना से रहित होने के कारण, संसार में ही परिभ्रमण करते रहते हैं।[5]

आगे इसी 'दर्शन-प्राभृत' में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि मुमुक्षु भव्य, जितना कुछ सदाचरण शक्य हो, उतना करे। पर जिसका परिपालन नहीं किया जा सकता है, उस पर श्रद्धा अवश्य रखे। कारण यह कि केवली 'जिन' ने श्रद्धान करने वाले आत्म-हितैषी के सम्यक्त्व को सद्भाव कहा है।[6]

लगभग इसी अभिप्राय को अभिव्यक्त करते हुए 'चारित्र-प्राभृत' में भी कहा गया है कि जो सम्यक्त्वाचरण से शुद्ध होते हैं वे विवेकी भव्य यदि संयमाचरण को प्राप्त कर लेते हैं तो शीघ्र निर्वाण को पा लेते हैं। किन्तु जो उस सम्यक्त्वाचरण से भ्रष्ट होते हुए संयमाचरण करते हैं, वे अज्ञानमय ज्ञान में विमूढ़ होने के कारण निर्वाण को प्राप्त नहीं कर पाते हैं।[7]

यहां यह स्मरणीय है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र के दो भेद किये हैं—सम्यक्त्वाचरण चारित्र और संयमाचरण चारित्र।[8]

आ० समन्तभद्र ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार कुशल केवट यात्रियों को नाव के द्वारा नदी के उस पार पहुंचा देता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन संसार-समुद्र से पार कराने में उस केवट के समान है। अतः वह ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा प्रमुखता से आराधनीय है। ज्ञान और चारित्र सम्यक्त्व के बिना न उत्पन्न होते हैं, न वृद्धि को प्राप्त होते हैं, न स्थिर रहते हैं, और न अपना फल भी दे सकते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार बीज के बिना वृक्ष। यही कारण है जो वहां मोहवान—दर्शनमोह से आक्रान्त मिथ्यादृष्टि—मुनि की अपेक्षा निर्मोह—उस दर्शन-मोह से रहित सम्यग्दृष्टि—गृहस्थ को मोक्ष-मार्ग में स्थित बतलाते हुए उसे

---

१. देखिए—षट्खण्डागमसूत्र १/१/१२३ (पु० १), और तत्त्वार्थसूत्र, ६/१८

२. देखिए, त० वा० ६/७/१८; पृ० ३३०

३. संयमनं संयमः। न द्रव्ययमः संयमः, तस्य 'सम्'शब्देनापादित्वात्। पु० १, पृ० १४४-४५(१/१/४)। 'सम्' सम्यक्-सम्यग्दर्शनज्ञानानुसारेण—यताः बहिरंगान्तरंगास्रवेभ्यो विरताः संयताः। धवला पु० १, पृ० ३६६, (१/१/१२३)।

४. प्रवचनसार ३/४०-४४

५. दर्शन प्राभृत, २-४

६. वही, २२

७. चारित्र-प्राभृत ६-१०

८. वही, ५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रेष्ठ घोषित किया गया है।[1]

भावलिंग की प्रधानता

'भावप्राभृत' में यह स्पष्ट किया गया है कि प्रथम या प्रधान तो भावलिंग है, द्रव्यलिंग को यथार्थ मत समझो; क्योंकि गुण-दोषों का कारणभूत भावलिंग ही है। बाह्य परिग्रह का जो त्याग किया जाता है, वह भाव की विशुद्धि के लिए ही किया जाता है। जो आभ्यन्तर परिग्रह (मिथ्यात्व आदि) से संयुक्त होता है, उसका वह बाह्य परिग्रह का त्याग निष्फल रहता है।

यहां कुछ उदाहरण

इसके स्पष्टीकरण में यहां भावप्राभृत में कुछ पौराणिक उदाहरण भी दिये गए हैं, जो इस प्रकार हैं[2]—

१. भगवान् आदिनाथ के पुत्र बाहुबलि देहादि-परिग्रह से निर्ममत्व होकर भी मानकषाय से कलुषित रहने के कारण कितने ही काल तक आतापन योग से स्थित रहे, पर केवल-ज्ञान उन्हें प्राप्त नहीं हुआ।

२. मधुपिंग नामक मुनि देह और आहार आदि के व्यापार से रहित होकर भावी भोगाकांक्षारूप निदान के निमित्त से श्रमणपने को प्राप्त नहीं हुआ।

३. वशिष्ठ मुनि निदान-दोष के वश दुःख को प्राप्त हुआ। चौरासी लाख योनियों के निवास-स्थान में ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहां पर भाव से रहित श्रमण नहीं रहा है। निर्ग्रन्थ लिंगी भाव से ही होता है, द्रव्यमात्र से —भाव रहित केवल नग्नवेश से—निर्ग्रन्थलिंगी नहीं होता है।

४. बाहु नामक मुनि ने जिन-लिंग (नग्नता) से सहित होते हुए भी आभ्यन्तर दोष के वश समस्त दण्डक नगर को जला डाला, जिसके कारण वह सातवीं पृथिवी के रौरव नामक नारकबिल में जा पड़ा।

५. सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से भ्रष्ट द्रव्य-श्रमण द्वीपायन मुनि अनन्तसंसारी हुआ।

६. इसके विपरीत, शिवकुमार नाम का भाव-श्रमण (भावी जम्बूस्वामी) युवतिजनों से वेष्टित होता हुआ भी परीतसंसारी—अधिक-से-अधिक अर्ध-पुद्गल-परिवर्तन प्रमाण परिमित संसार वाला—हुआ।

७. बारह अंग और चौदह पूर्व स्वरूप समस्त श्रुत को पढ़कर भी भव्यसेन मुनि भाव-श्रामण्य को प्राप्त नहीं हुआ।

८. इसके विपरीत भाव से विशुद्ध शिवभूति नामक मुनि तुषमाष की घोषणा करता हुआ—भेदविज्ञान से विभूषित होकर—केवलज्ञानी हुआ।

श्रमण-दीक्षा

प्रवचनसार के चारित्र-अधिकार में मुमुक्षु भव्य को लक्ष्य करके यह उपदेश किया गया है कि हे भव्य ! यदि तू दुःख से मुक्त होना चाहता है तो पांचों परमेष्ठियों को प्रणाम करके श्रमण धर्म को स्वीकार कर। इसके लिए माता-पिता आदि गुरुजनों के साथ स्त्री-पुत्रादि से पूछकर, उनकी अनुमति प्राप्त कर, तदनुसार उनकी अनुमति प्राप्त हो जाने पर दर्शन-ज्ञानादि पांच आचारों के परिपालक व अन्य अनेक गुणों से विशिष्ट आचार्य की शरण में जाकर, सविनय वन्दना करता हुआ, उनसे जिन-दीक्षा देने की प्रार्थना कर। इस प्रकार उनसे अनुगृहीत होकर मुनिधर्म में दीक्षित होता हुआ दृढ़तापूर्वक यह निश्चय कर कि मैं न तो दूसरों का कोई हूं और न दूसरे मेरे कोई हैं, यहां मेरा अन्य कुछ भी नहीं। इस प्रकार इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके बालक के समान निर्विकार दिगम्बर रूप-निर्वस्त्रता को ग्रहण कर ले।

जिनलिंग द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार का है। उनमें तत्काल उत्पन्न हुए बालक के रूप को (नग्नता) धारण करके, जो कैंची या उस्तरे आदि की सहायता के बिना, सिर व दाढ़ी के बालों का लुञ्चन किया जाता है, वह अन्य भी प्रतिक्रिया से रहित शुद्ध 'द्रव्य लिंग' है। वह हिंसा व असत्य आदि पापों से रहित होता है। इसके साथ मूर्च्छा (ममेदंबुद्धि) से रहित और उपयोग (आत्मपरिणाम) व मन-वचन-कायरूप योगों की शुद्धि से संयुक्त जिस लिंग में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रहती है, वह भावलिंग है, जो अपुनर्भव का कारण है—जन्म-मरण-जन्य दुःख से मुक्ति दिलाने वाला है।[3]

---

१. रत्नकरण्ड, १/३१-३३

२. भावप्राभृत ४४-५३ (कथाएं श्रुतसागरीय टीका में द्रष्टव्य हैं)।

३. प्रवचनसार, ३/५-६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलगुण

इस प्रसंग में आगे वहां उन मूल गुणों का भी उल्लेख किया गया है जिनका परिपालन साधु को जिनदीक्षा स्वीकार करके अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। वे मूलगुण हैं—पांच महाव्रत, पांच समितियां, पांचों इन्द्रियों का निरोध, बालों का लुञ्चन करना, छह आवश्यक, अचेलकता (निर्वस्त्रता), स्नान का परित्याग, भूमि पर सोना, दांतों का न धोना, खड़े रहकर भोजन ग्रहण करना और वह भी एक बार ही करना। इस प्रकार यहां इन २८ मूलगुणों का निर्देश करते हुए आगे यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ये श्रमणों के २८ मूलगुण जिनेन्द्र के द्वारा कहे गये हैं। इनके परिपालन में जो श्रमण प्रमादयुक्त (असावधान) रहता है, वह छेदोपस्थापक होता है।[1] छेदोपस्थापक होने का स्पष्टीकरण आगे चारित्र-भेदों के प्रसंग में किया जाने वाला है।

यहां इन मूलगुणों का स्पष्टीकरण संक्षेप में 'मूलाचार' के आधार पर किया जाता है—

'मूलगुण' के स्पष्टीकरण में मूलाचार की आ० वसुनन्दी-विरचित आचारवृत्ति में कहा गया है कि 'मूल' शब्द यद्यपि अनेक अर्थों में वर्तमान है, पर यहां उसे 'प्रधान' अर्थ में ग्रहण किया गया है।

इसी प्रकार से 'गुण' शब्द भी अनेक अर्थों में वर्तमान है, पर उसे यहां 'आचरण-विशेष' अर्थ में ग्रहण किया गया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि साधु के उत्तर गुणों के आधारभूत प्रधान अनुष्ठान को 'मूलगुण' नाम से कहा जाता है।[2]

पांच महाव्रत

अहिंसा—पृथिवीकायादि छह काय, पांच इन्द्रियां, चौदह गुण-स्थान, चौदह मार्गणाएं, जातिभेदभूत कुल, आयु और जीवों की उत्पत्ति के स्थानभूत योनियां, इन सबको जानकर स्थान, शयन, आसन, गमनागमन एवं भोजन आदि के समय प्राणि-हिंसा से रहित होना—इसका नाम 'अहिंसा महाव्रत' है।[3]

सत्य— राग-द्वेष व मत्सरता आदि के वशीभूत होकर असत्य वचन न बोलना, अन्य प्राणियों को पीड़ा पहुंचाने वाला सत्य भाषण भी न करना, तथा सूत्र (आगम) व उसके अर्थ के व्याख्यान में अयथार्थ निरूपण न करना—यह सत्य महाव्रत कहलाता है।[4]

अदत्त परिवर्जन (अचौर्य) —ग्राम, नगर और मार्ग आदि स्थानों में पड़ी हुई, गिरी हुई या भूली हुई किसी भी थोड़ी-बहुत वस्तुओं को नहीं ग्रहण करना, तथा जो खेत व गृह आदि दूसरे के अधिकार में हों, उनको भी नहीं ग्रहण करना—इसे 'अदत्त परिवर्जन' या 'अचौर्य महाव्रत' कहा जाता है।[5]

ब्रह्मचर्य—वृद्धा, बाला और युवती—इन तीन प्रकार की स्त्रियों को क्रम से माता, पुत्री और बहिन के समान समझकर उनसे दूर रहना, चित्रलिखित स्त्रियों के रूप को देखकर कलुषितभाव न करना तथा स्त्रीकलत्र आदि से निवृत्त होना, इसे ब्रह्मचर्य महाव्रत कहते हैं।[6]

असंग (परिग्रहपरित्याग)—जीव से सम्बद्ध शरीर, मिथ्यात्व, क्रोधादि व हास्यादि तथा उससे असम्बद्ध क्षेत्र व गृह-सम्पत्ति आदि, इनका परित्याग करते हुए, संयम व शौच आदि के उपकरणभूत पीछी-कमण्डलु आदि की ओर से भी निर्ममत्व रहना। इसे असंग या परिग्रह-परित्याग महाव्रत कहा जाता है।[7]

पांच समितियां

आगमानुसार जो गमनागमनादिरूप प्रवृत्ति की जाती है, उसे 'समिति' कहते हैं। वह पांच प्रकार की है—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और प्रतिष्ठापना।

ईर्या समिति—साधु-प्रयोजन के वश युग-प्रमाण (चार हाथ) भूमि को देखकर प्राणियों के संरक्षण में सावधान रहता हुआ जो दिन में प्रासुक मार्ग से गमन करता है, इसे ईर्या समिति कहते हैं। प्रयोजन से यहां शास्त्रश्रवण, तीर्थयात्रा, गुरुवन्दना व भिक्षा-ग्रहण आदि अभिप्रेत हैं, क्योंकि सर्वथा आरम्भ व परिग्रह से रहित साधु के लिए ऐसे ही कुछ धर्मकार्यों के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन नहीं रहता।

---

१. प्रवचनसार, ३/८-९ व मूलाचार १/२-३
२. मूलाचार वृत्ति, १/१
३. वही, १/५; नियमसार गाथा ५६ भी द्रष्टव्य है।
४. वही, १/६; " ५७ "
५. वही, १/७; " ५८ "
६. वही, १/८; " ५९ "
७. वही, १/९; नियमसार गाथा ६० भी द्रष्टव्य है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रासुक का अर्थ है जन्तुओं से रहित। जिस मार्ग पर हाथी, घोड़ा व गाय-भैंस आदि का आवागमन चालू हो चुका हो, वह 'प्रासुक' माना जाता है। इस प्रासुक मार्ग से भी दिन में पर्याप्त प्रकाश के हो जाने पर ही गमन करना चाहिए।[1]

भाषा समिति—पिशुनता, हास्य, कठोरता, परनिन्दा, आत्मप्रशंसा और निकृष्ट स्त्रीकथादि रूप वचन को छोड़कर ऐसा निर्दोष वचन बोलना, जो अपने लिए व अन्य प्राणियों के लिए भी हितकर हो।[2]

आ० अमृतचन्द्र सूरि ने असत्य वचन के चार भेदों का निर्देश करते हुए उनमें चौथे असत्य के ये तीन भेद निर्दिष्ट किये हैं—गर्हित, सावद्य और अप्रिय। इनमें पिशुनता व हास्य से सहित, कठोर, निन्द्य तथा और भी आगम-विरुद्ध जो वचन हो उसे गर्हित असत्य वचन कहा जाता है। पिशुनता का अर्थ है पीछे (परोक्ष में) व्यक्ति के सत्-असत् दोषों को प्रकट करना। छेदन-भेदन व मारण आदि रूप ऐसे वचनों को, जिनसे जीव-वध आदि पाप-कार्यों में प्रवृत्ति सम्भव हो, सावद्य अनृत वचन कहते हैं। जो वचन अप्रीति, भय, खेद, वैर, शोक व कलह को उत्पन्न करने वाला है ऐसे सन्तापजनक वचन का नाम अप्रिय है। ऐसे असत्य वचन जब गृहस्थ के लिए भी परित्याज्य हैं, तब भला साधु ऐसे वचनों का प्रयोग कैसे कर सकता है? उसके लिए उनका परित्याग अनिवार्य है।[3]

एषणा समिति—छयालीस दोषों से रहित, बुभुक्षा आदि कारणों से सहित, मन-वचन-काय व कृत-कारित-अनुमतरूप नौ कोटियों से विशुद्ध तथा शीत-उष्ण आदि रूप होने पर राग-द्वेष से वर्जित जो भोजन का ग्रहण किया जाना है, उसे एषणा समिति कहा गया है।[4]

आदान-निक्षेपण समिति—ज्ञान के उपकरण-भूत पुस्तक आदि, संयम के उपकरण-स्वरूप पीछी आदि और शौच के उपकरण-भूत कमण्डलु को तथा अन्य संस्तर आदि को भी प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करना व रखना, इसका नाम आदान-निक्षेपण समिति है।[5]

प्रतिष्ठापना समिति—जन-समुदाय के आवागमन से विहीन एकान्तरूप, जन्तुरहित, दूसरों की दृष्टि के अगोचर, विस्तृत (बिल आदि से रहित) और जहां किसी को विरोध न हो, ऐसी शुद्ध भूमि में मल-मूत्र आदि का त्याग करना, यह प्रतिष्ठापना समिति कहलाती है।[6]

पांच प्रकार का इन्द्रिय-निरोध

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शन—इन पांचों इन्द्रियों को अपने-अपने विषय-क्रम से वर्ण, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श की ओर स्वेच्छा से प्रवृत्त न होने देना; यह क्रम से पांच प्रकार का इन्द्रिय-निरोध है। अभिप्राय यह है कि इष्ट व अनिष्ट—पांचों इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष से रहित होकर, उन्हें अपने नियंत्रण में रखना, ये पांच इन्द्रिय-निरोध नामक पांच मूलगुण हैं।[7]

छह आवश्यक

जो राग-द्वेषादि के वश नहीं होता उसका नाम 'अवश', और उसके अनुष्ठान का नाम आवश्यक है। वे आवश्यक छह हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग।[8]

सामायिक—सामायिक का समानार्थक शब्द 'समता' है। जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, संयोग-वियोग, मित्र-शत्रु और सुख-दुःख आदि में सम (राग-द्वेष से रहित) होना—इसका नाम समता व सामायिक है।[9]

सम्यक्त्व, ज्ञान, संयम और तप के साथ जो प्रशस्त गमन (प्रवृत्ति) होता है, उसे 'समय' कहा जाता है, उसी को यथार्थ 'सामायिक' जानना चाहिए। जो उपसर्ग व परीषह को जीत चुका है, भावनाओं व समितियों में सदा उपयोग-युक्त रहता है, तथा यम और नियम के परिपालन में उद्यत रहता है, ऐसा जीव उस सामायिक से परिणत होता है।[10]

---

१. मूलाचारवृत्ति, १/११, नियमसार गाथा ६३ भी द्रष्टव्य है।
२. वही, १/१२, " ६२ "
३. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, ९१-९९
४. मूला० १/१५, " ६३ "
५. " १/१६, " ६४ "
छयालीस दोषों आदि की विशेष जानकारी के लिए 'अनेकान्त' वर्ष २७, कि० ४ में प्रकाशित 'पिण्डशुद्धि के अन्तर्गत उद्दिष्ट आहार पर विचार' शीर्षक लेख द्रष्टव्य है। मूलाचार में 'पिण्ड-शुद्धि' नाम का एक स्वतन्त्र अधिकार (६) ही है।
६. मूला०, १/१७; नियमसार गा० ६५ भी द्रष्टव्य है।
७. वही, १/१९ (आगे गाथा १९-२३ विशेष रूप से द्रष्टव्य है)।
८. वही, १/२४
९. वही, १/२५
१०. मूला०, ७/२३-२८; विशेष जिज्ञासुओं को इस मूलाचार में सामायिक आवश्यक के प्रकरण (७/२१-४६) को देखना चाहिए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चतुर्विंशतिस्तव—ऋषभादि से महावीर-पर्यन्त हुए चौबीस तीर्थंकरों का नाम-निरुक्तिपूर्वक—नामों की सार्थकता को प्रकट करते हुए—जो गुणानुवाद किया जाता है तथा पूजा करते हुए मन-वचन-काय की शुद्धिपूर्वक उन्हें प्रणाम किया जाता है, इसका नाम चतुर्विंशतिस्तव है।[१]

इस चतुर्विंशतिस्तव को साधु किस प्रकार से करे, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि दोनों पांवों के मध्य में चार अंगुलों का अन्तर करके स्थित होता हुआ, शरीर व भूमि का प्रतिलेखन करे। इस प्रकार शरीर व भूमि को शुद्ध करके, आकुलता से सर्वथा रहित होता हुआ हाथों को जोड़, निर्मल प्रणामपूर्वक चतुर्विंशतिस्तव को करना चाहिए।[२]

वन्दना—अर्हन्त प्रतिमा, सिद्ध प्रतिमा तथा जो तप में, श्रुत में एवं अन्य ज्ञानादि गुणों में श्रेष्ठ हैं उन्हें और विद्यागुरु व दीक्षा-गुरु, इन सबको कायोत्सर्ग व सिद्धभक्ति-श्रुतभक्ति आदि के साथ जो मन-वचन-काय—की शुद्धिपूर्वक प्रणाम किया जाता है, उसे वन्दना कहते हैं।[३]

मूलाचार के आवश्यक अधिकार में इस वन्दना 'आवश्यक' की विस्तार से प्ररूपणा की गई है।[४] वहां इस प्रसंग में कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म किसे करना चाहिए, तथा किसका, किस प्रकार से, कहां और कितने बार करना चाहिए, उसमें कितनी अवनतियां व कितने सिर झुकाकर प्रणाम किये जाते हैं, कितने आवर्तों से वह शुद्ध होता है, तथा कितने दोषों से रहित होता है, इस सबका स्पष्टीकरण किया गया है। संक्षेप में इतना समझा जा सकता है कि जो पांच महाव्रतों से विभूषित है, धर्मानुरागी है, आलस्य से रहित है, अभिमान से विहीन है तथा दीक्षा में लघु है, वह कर्म-निर्जरा का इच्छुक होकर सदा 'कृति कर्म' को करता है। उस निर्जरा के लिए आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक (संघसंचालक), स्थविर और गणधर आदि का कृतिकर्म (वन्दना) किया जाता है। व्रत-विहीन माता, पिता, गुरु, राजा, पाखण्डी, श्रावक व सूर्य-चन्द्रादि देव उनकी, तथा पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अवसंज्ञ या अवसन्न और मृगचरित्र—इन पांच पार्श्वस्थ मुनियों की भी वन्दना नहीं करनी चाहिए। जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और विनय—इनमें निरन्तर उपयुक्त रहते हैं, उनकी वन्दना करनी चाहिए। आचार्य आदि के साथ ही, जो शील-आदि गुणों के धारकों का गुणानुवाद करने वाले हैं, वे भी वन्दनीय हैं। इसके अतिरिक्त जो व्याक्षिप्त—ध्यान आदि से व्याकुल, विधेय अनुष्ठान की ओर से विमुख, अथवा पृष्ठभाग से स्थित हैं, और जो प्रमाद से युक्त हैं, ऐसे संयत की भी कभी वन्दना नहीं करनी चाहिए। आहार व नीहार (मल-मूत्रादि) करते समय भी कोई वन्दनीय नहीं होता। इसके विपरीत जो शुद्ध भूमि में पद्मासन से स्थित है, अपनी ओर मुख किये है तथा उपशान्त (स्वस्थ-चित्त) है उसकी बुद्धिमान् को विधिपूर्वक वन्दना करनी चाहिए।[५]

प्रतिक्रमण

आहारादि द्रव्य, शयनासनादि क्षेत्र, पूर्वाह्ण-अपराह्ण आदि काल और मन की प्रवृत्ति रूप भाव, व इनके विषय में जो अपराध किया गया है उसके प्रति निन्दा व गर्हापूर्वक मन-वचन-काय से प्रतिक्रिया अभिव्यक्त करते हुए उसे शुद्ध करना, इसका नाम 'प्रतिक्रमण' है। स्वयं जो दोषों को अभिव्यक्त किया जाता है, उसका नाम 'निन्दा' है। आलोचनापूर्वक आचार्य-आदि के समक्ष किये गये दोषों को प्रकट करना, यह 'गर्हा' का लक्षण है। निन्दा आत्मप्रकाश रूप, और गर्हा पर-प्रकाश-रूप होती है, यह दोनों में भेद समझना चाहिए।[६]

यह प्रतिक्रमण दैनिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और उत्तमार्थ के भेद से सात प्रकार का है। उत्तम अर्थ के लिए जो जीवन-पर्यन्त चार प्रकार के आहार का परित्याग किया जाता है, उसे उत्तमार्थ प्रतिक्रमण समझना चाहिए।[७]

प्रतिक्रमण करनेवाला कैसा होना चाहिए, प्रतिक्रमण का स्वरूप क्या है, और प्रतिक्रमण के योग्य क्या होता है, इसका 'प्रतिक्रमण' आवश्यक के प्रसंग में विस्तार से निरूपण किया गया है।[८]

प्रत्याख्यान—तीनों कालों के आश्रित नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन छह से सम्बद्ध अयोग्य (जो सेवन के योग्य नहीं हो) का मन-वचन-काय व कृत-कारित-अनुमत इन नौ प्रकारों से परित्याग करना—इसे प्रत्याख्यान कहते हैं।[९]

---

१. मूलाचारवृत्ति, १/२४
२. वही, ७/७६
३. वही, १/२५
४. वही, ७/७५-११४
५. वही, ७/९३-१०१
६. वही, १/२६
७. वही, ७/११६
८. वही, ७/११७-३४
९. वही, १/२७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मूलाचार-प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान में भेद दिखलाते हुए वृत्ति में यह स्पष्ट किया गया है कि अतीत काल में उत्पन्न दोषों का प्रतीकार करना, यह प्रतिक्रमण का स्वरूप है, तथा आगे भविष्यत् और वर्तमान में उत्पन्न होने वाले द्रव्यादिविषयक दोषों का परिहार करना, इसे प्रत्याख्यान कहा जाता है। इसके अतिरिक्त प्रत्याख्यान में तप के लिए निर्दोष द्रव्यादि का भी परित्याग किया जाता है, किन्तु प्रतिक्रमण में दोषों का ही प्रतीकार किया जाता है, यह भी उन दोनों में विशेषता है।[1]

प्रत्याख्यान करनेवाला किन विशेषताओं से युक्त होता है और प्रत्याख्यान का स्वरूप क्या है, तथा प्रत्याख्यान के योग्य सचित्त-अचित्त आदि द्रव्य कैसा होता है—इसका विस्तार से विचार मूलाचार में 'प्रत्याख्यान' आवश्यक के प्रकरण में किया गया है।[2]

कायोत्सर्ग—दैवसिक और रात्रिक आदि नियमों—में आगमविहित कालप्रमाण से उस-उस काल में जिन गुणों का स्मरण करते हुए जो कायोत्सर्ग किया जाता है—शरीर से ममत्व को छोड़ा जाता है—इसे कायोत्सर्ग या व्युत्सर्ग कहते हैं।[3]

मूलाचार के षडावश्यक अधिकार में इस कायोत्सर्ग के विषयों पर विस्तार से विचार किया गया है।[4]

यहां संक्षेप में उसके विषय में प्रकाश डाला जाता है—

कायोत्सर्ग में अधिष्ठित होते समय दोनों बाहुओं को लम्बा करके उभय पांवों के मध्य में चार अंगुलों का अन्तर रखते हुए समपाद स्वरूप से स्थित होना चाहिए, तथा हाथ, पांव, सिर और आंखों आदि शरीर के सभी अवयवों को स्थिर रखना चाहिए। विशुद्ध कायोत्सर्ग का यही लक्षण है। जो मुमुक्षु विशुद्ध आत्मा निद्रा पर विजय प्राप्त कर चुका है, सूत्र (परमागम) और अर्थ में निपुण है, परिणामों से शुद्ध है तथा बल-वीर्य से सहित है—ऐसा भव्य जीव कायोत्सर्ग में अधिष्ठित होता है। कायोत्सर्ग में अधिष्ठित होने वाला आत्म-हितैषी यह विचार करता है कि कायोत्सर्ग मोक्षमार्ग में प्रवृत्त करने वाला, व घातियाकर्मजनित दोषों का विनाशक है। इसलिए मैं उसमें अधिष्ठित होने की इच्छा करता हूं। 'जिनदेव' ने स्वयं उसका आराधन किया है व उपदेश भी दिया है।

कायोत्सर्ग में अधिष्ठित होता हुआ वह विचार करता है कि एक पद के आश्रित होकर भी मैंने राग-द्वेष के वशीभूत होकर जो दोष उत्पन्न किये हैं, चार कषायों के वश जो गुप्तियों व व्रतों का उल्लंघन किया है, छह काय के जीवों का विराधन किया है, सात भय व आठ मद के आश्रय से जो सम्यक्त्व को दूषित किया है, तथा ब्रह्मचर्य धर्म के विषय में जो प्रमाद किया है, उस सब के द्वारा जो कर्म उपार्जित किया है, उसके विनाशार्थ मैं कायोत्सर्ग में स्थित होता हूं। देव, मनुष्य और तिर्यंच—इनके द्वारा जो उपसर्ग किये गए हैं उनको मैं कायोत्सर्ग में स्थित होता हुआ सहन करता हूं। इसका अभिप्राय यह है कि यदि कायोत्सर्ग में स्थित रहते हुए उपसर्ग आते हैं तो उन्हें सहन करे, तथा उपसर्गों के आने पर यथा-योग्य कायोत्सर्ग करना चाहिए।

कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट काल एक वर्ष और जघन्य भिन्न (एक समय कम) मुहूर्त है। शेष कायोत्सर्ग शक्ति के अनुसार अनेक स्थानों में होते हैं। आगे दैवसिक प्रतिक्रमण आदि में कुछ काल का प्रमाण भी निर्दिष्ट किया गया है।[5]

यहां ऊपर पांच महाव्रत, पांच समितियां, पांच इन्द्रियों का निरोध और छह आवश्यक—इन इक्कीस मूल गुणों के विषय में संक्षेप से प्रकाश डाला गया है ! अब सात अन्य आवश्यक जो शेष रह जाते हैं, वे इस प्रकार हैं—

लोच—सिर और दाढ़ी आदि के बालों को जो हाथों से उखाड़ा जाता है वह 'लोच' कर्म कहलाता है। वह उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकार का है। इनमें दो मासों के पूर्ण होने पर जो लोच किया जाता है उसे उत्कृष्ट, तीन मासों के पूर्ण होने पर या उसके बीच में जो लोच किया जाता है उसे मध्यम, तथा चार मासों के पूर्ण होने पर या उनके अपूर्ण रहते भी जो लोच किया जाता है, उसे जघन्य माना गया है। उस लोच को पाक्षिक व चातुर्मासिक आदि प्रतिक्रमण के दिन उपवासपूर्वक करना चाहिए।

यद्यपि बालों को कैंची या उस्तरा आदि की सहायता से भी हटाया जा सकता है, पर उसमें परावलम्बन है। कारण कि उनको दीनतापूर्वक किसी अन्य से मांगना पड़ेगा, परिग्रह-रूप होने से उन्हें पास में रखा भी नहीं जा सकता है। बाह्य व आभ्यन्तर परिग्रह का सर्वथा त्याग करने वाले मुनि का मार्ग पूर्णतया स्वावलम्बन रूप है। बालों के बढ़ने पर उनमें जूं आदि क्षुद्र जन्तु उत्पन्न होने वाले हैं जिनके विघात को नहीं रोका जा सकता है। बालों के बढ़ाने में राग-भाव भी सम्भव है। इसके अतिरिक्त लोच करने में आत्मबल और सहनशीलता भी प्रकट होती है। इन सब कारणों से उस लोच को मुनि के मूल गुणों में ग्रहण किया गया है।[6]

---

१. मूलाचारवृत्ति, १/२७
२. वही, ७/१३६-५०
३. "　१/२८
४. "　७/१५०-८६
५. वही, ७/१५३-६४
६. वही, १-२६ व उसकी वृत्ति।

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

आचार्य वसुनन्दी ने अपनी वृत्ति में 'सप्रतिक्रमण दिवस' का अर्थ विकल्प रूप में यह भी किया है कि लोच करके प्रतिक्रमण करना चाहिए।

आचेलक्य—चेल नाम वस्त्र का है, वस्त्र यह चमड़ा व बकला आदि अन्य सबका उपलक्षण है। इसका यह अभिप्राय हुआ कि सूती, रेशमी व ऊनी आदि किसी भी प्रकार के वस्त्र, चमड़े और वृक्ष के बकले व पत्ते आदि अन्य किसी से भी जननेन्द्रिय को आच्छादित न करके, बालक के समान निर्विकार रहना, यह मुनि का 'आचेलक्य' नाम का मूलगुण है। भूषण व वस्त्र से रहित दिगम्बर वेश लोक में पूज्य होता है। इसमें लज्जा को छोड़ते हुए किसी से न तो वस्त्र की याचना करनी पड़ती है, और न उसके फट जाने पर सीने के लिए सुई-धागे आदि की चिन्ता करनी पड़ती है। इस प्रकार वह पूर्णतया स्वावलम्बन का कारण है, जिसकी मुनि-धर्म में अपेक्षा रहती है।[१]

अस्नान—स्नान का परित्याग करने से यद्यपि समस्त शरीर जल्ल, मल्ल और स्वेद से आच्छादित रहता है, पर निरन्तर ध्यान-अध्ययन आदि में निरत रहने वाले साधु का उस ओर ध्यान न जाना तथा उससे घृणा न करके उसे स्वच्छ रखने का रागभाव न रहना, यह मुनि का अस्नान नामक मूल गुण है। इसके आश्रय से इन्द्रिय-संयम और प्राण-संयम दोनों ही प्रकार के संयम का पालन होता है। जल्ल सर्वांगीण मल को कहा जाता है। शरीर के एक देश में होने वाले मैल को मल्ल और पसीने को स्वेद कहते हैं।[२]

क्षिति-शयन—जहां पर तृण आदि रूप किसी प्रकार का संस्तर नहीं है अथवा जिसमें संयम का विघात न हो ऐसे अल्पसंस्तर से जो सहित है तथा जो प्रच्छन्न है—स्त्री व पशु आदि के आवागमन से रहित है, इस प्रकार के प्रासुक (निर्जन्तुक) भूमि-प्रदेश में दण्ड (काष्ठ) या धनुष के समान एक करवट से सोना—यह 'क्षितिशियन' नाम का मूल गुण है।[३]

उक्त प्रकार के जीव-जन्तुओं से रहित शुद्ध भूमि में करवट न बदलकर एक ही करवट से सोने पर जहां स्पर्शन-इन्द्रिय के वश नहीं होना है, वहीं प्राणियों का संरक्षण भी होता है। इस प्रकार दोनों ही प्रकार के संयम का उसमें परिपालन होता है।

अदन्तधावन—अंगुलि, नख, दातौन, तृण, पत्थर व बकला आदि से दांतों के मैल को न निकालना, यह अदन्तघर्षणा नाम का मूल गुण है। इसके परिपालन से संयम को रक्षा होने के साथ शरीर की ओर से निर्ममत्व भाव भी होता है।[४]

स्थितिभोजन—भीत व खम्भे आदि के आश्रय को छोड़ दोनों पांवों को समान करके, अंजलिपुट से दोनों हाथों की अंगुलियों को परस्पर-सम्बद्ध करके स्थित (खड़ा) रहता हुआ जो तीन प्रकार से विशुद्ध स्थान (अपने पांवों का स्थान, उच्छिष्ट के गिरने का स्थान और परोसने वाले का स्थान) में भोजन ग्रहण किया जाता है, उसे स्थिति-भोजन कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि साधु किसी भीत आदि का सहारा न लेकर दोनों हाथों की अंजिल को ही पात्र बनाकर उससे इस प्रकार आहार ग्रहण करता है कि उच्छिष्ट आहार नाभि के नीचे न जा सके। भोजन करते समय दोनों पांव चार अंगुल के अन्तर से सम रहने चाहिए, अन्यथा अन्तराय होता है। अन्य मूल-गुणों के समान इन्द्रिय-संयम व प्राण-संयम दोनों का परिपालन होता है।[५]

एकभक्त—सूर्य के उदय और अस्तगमन काल में तीन मुहूर्तों को छोड़कर, अर्थात् सूर्योदय से तीन मुहूर्त बाद और सूर्यास्त होने से तीन मुहूर्त पहले, मध्य के काल में एक, दो अथवा तीन मुहूर्तों में जो एक बार या एक स्थान में भोजन ग्रहण किया जाता है, उसका नाम क्रमशः एकभक्त और एकस्थान है। इनमें एकभक्त यह मूलगुणों के अन्तर्गत है, जबकि 'एकस्थान' उत्तरगुणों के अन्तर्गत है, इस एक-भक्त मूलगुण के परिपालन से इन्द्रिय-जय के साथ इच्छा के निरोधस्वरूप तप भी होता है।[६]

इन २८ मूलगुणों के अतिरिक्त अन्य भी कुछ दैनिक अनुष्ठान हैं, जिसका साधु को पालन करना चाहिए। उसका औधिक और पदविभागिक समाचार के रूप में विधान किया गया है।[७]

चारित्र के भेद

चारित्र अथवा संयम के ये पांच भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात।[८]

१. मूला० १/३०
२. " १/३१
३. " १/३२
४. मूलाचार १/३३
५. " १/३४
६. " १/३५
७. इसके लिए 'महावीर जयन्ती-स्मारिका' जयपुर १६८२ में प्रकाशित 'श्रामण्य : साधुसमाचार' शीर्षक लेख द्रष्टव्य है।
८. ध० षट्खण्डागम सू० १/१/१२३ और तत्त्वार्थसूत्र ६/१८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. **सामायिक**—'मैं सर्व सावद्ययोग से विरत हूं' इस भाव के साथ जो समस्त सावद्य योग का परित्याग किया जाता है, उसे सामायिक संयम कहते हैं। यह द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा से कहा गया है। इस नय की अपेक्षा अन्य सब संयमभेद इस एक ही सामायिक संयम के अन्तर्गत हैं। कारण यह कि इस सामायिक संयम में हिंसा-असत्यादि की विवक्षा न करके सभी प्रकार के सावद्य (सपाप) योग का परित्याग किया जाता है।[1]

अजित आदि या पार्श्वनाथ-पर्यन्त २२ तीर्थंकर एक सामायिक संयम का ही उपदेश करते हैं। पर भगवान् ऋषभ और महावीर—ये दो तीर्थंकर छेदोपस्थापन का उपदेश करते हैं। पांच महाव्रतों का जो विभाग किया गया है वह दूसरों को समझाने, पृथक्-पृथक् परिपालन और सुखपूर्वक विशेष ज्ञान कराने के लिए किया गया है। भगवान् आदि जिनेन्द्र के तीर्थ में शिष्य सरल स्वभाव वाले रहे हैं, इन व्रतों का वे कष्टपूर्वक शोधन करते थे, तथा भगवान् महावीर जिनके तीर्थ में शिष्य वक्रस्वभाव वाले रहे हैं, इससे वे उनका पालन कष्टपूर्वक करते थे। पूर्वकाल के व अन्तिम जिन के काल के शिष्य कल्प्य-अकल्प्य (सेव्यासेव्य) को नहीं जानते थे। इसी कारण से आदि जिनेन्द्र और महावीर जिनेन्द्र ने पृथक्-पृथक् बोध कराने के लिए विभाग करते हुए पांच महाव्रतों आदि के रूप में उपदेश दिया है।[2]

२. **छेदोपस्थापना**—विभिन्न देश-कालों में त्रस-स्थावर जीवों के स्वरूप में भेद रहने से उन्हें ठीक न समझ सकने के कारण जो प्रमादवश अनर्थ हुआ है व निरवद्य अनुष्ठान का पालन नहीं किया जा सका है, उससे उपार्जित कर्म का जो भली-भांति प्रतीकार किया जाता है उसका नाम छेदोपस्थापना है। अथवा हिंसा-असत्यादि के भेदपूर्वक उस सावद्य योग से निवृत्त होना, इसे छेदोपस्थापना समझना चाहिए।[3]

धवला में भी लगभग इसी अभिप्राय को प्रकट करते हुए कहा गया है कि उसी एक सामायिक व्रत को जो पांच अथवा बहुत भेदों में विभक्त कर धारण किया जाता है वह छेदोपस्थापना संयम कहलाता है। यह पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से कहा गया है। ये दोनों संयम प्रमत्तसंयत गुण-स्थान से लेकर अनिवृत्तिकरण संयत तक चार गुण-स्थानों में होते हैं।[4]

३. **परिहारविशुद्धि संयम**—प्राणिहिंसा आदि के परिहार से जिस संयम में शुद्धि होती है उसे 'परिहारविशुद्धि संयम' कहा जाता है। यह संयम जिसने तीस वर्ष का होकर वर्ष पृथक्त्व काल तक तीर्थंकर के पादमूल का आराधन किया है, जो प्रत्याख्यान-पूर्व में पारंगत हुआ है, तथा जो जीवों की उत्पत्ति आदि से परिचित और प्रमाद से रहित होता है, ऐसे महाबलशाली अतिशय दुष्कर चर्या का अनुष्ठान करने वाले के होता है, अन्य के वह संभव नहीं है। वह तीनों सन्ध्याकालों को छोड़कर दो गव्यूति गमन किया करता है।[5]

धवला में इसे कुछ विशेष स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिसने तीस वर्ष तक इच्छानुसार भोगों का अनुभव कर, सामान्य व विशेष रूप से संयम को ग्रहण करते हुए, विविध प्रकार के प्रत्याख्यान के प्रतिपादक प्रत्याख्यान-पूर्व का भली-भांति अध्ययन किया है, एवं जो उसमें पारंगत होने से सब प्रकार के संशय से रहित हो चुका है, वह विशेष तप के प्रभाव से परिहार-ऋद्धि से सम्पन्न होता हुआ तीर्थंकर के पादमूल में परिहार-शुद्धि संयम को स्वीकार करता है। इस प्रकार. उस संयम को ग्रहण करके वह बैठने, उठने व गमन करने व भोजन-पानादि रूप व्यापार में प्राणि-परिहार के विषय में समर्थ होता है, इसीलिए उसे परिहार-शुद्धि संयत कहा जाता है।[6] यह प्रमत्तसंयत और और अप्रमत्तसंयत—इन दो गुणस्थानों में होता है।[7]

४. **सूक्ष्मसाम्पराय**—साम्पराय नाम कषाय का है। अतिशय सूक्ष्म कषाय क शेष रह जाने पर जो विशुद्धि होती है, उसे सूक्ष्म साम्पराय संयम कहते हैं।[8] यह एक ही सूक्ष्म साम्परायिक गुणस्थान में होता है।[9]

५. **यथाख्यात**—मोह के पूर्ण रूप से उपशान्त अथवा क्षीण हो जाने पर, जो आत्म-स्वभावरूप अवस्था प्रादुर्भूत होती है, उसका नाम अथाख्यात या यथाख्यात चारित्र है। मोह के क्षय अथवा उपशम के पहले, पूर्ण चारित्र के अनुष्ठाताओं ने उसका निरूपण तो किया है, किन्तु उसे प्राप्त नहीं किया है, इसीलिए उसे 'अथाख्यात' इस नाम से कहा जाता है। अथवा 'यथा' यानी 'जैसा' (आत्मा का स्वभाव) अवस्थित है, उसका उसी प्रकार से निरूपण करने के कारण, उसे 'यथाख्यात' इस नाम से भी कहा जाता है।[10] यह उपशान्तकषाय, क्षीण-

---

१. धवला पु० १, पृ० ३६६
२. मूलाचार, ७/३६-३८
३. तत्त्वार्थवार्तिक ६, १८, ६-७
४. धवला पु० १, पृ० ३७० व ३७४ (सूत्र १२५)
५. तत्त्वार्थवार्तिक ६, १८, ८
६. धवला, पु० १, पृ० ३७०/७१
७. षट्खण्डागम, सू० १/१/१२६ (पु० १)
८. तत्त्वार्थवार्तिक, ६/१८/६, तथा धवला पु० १, पृ० ३७१
९. षट्खण्डागम, सूत्र—१/१/१२७ (पु० १)
१०. तत्त्वार्थवार्तिक, ६/१८/११ व १२, तथा धवला—पु० १, पृ० ३७१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कषाय, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली—इन चार गुणस्थानों में होता है।[1]

मूलाचार में पांच महाव्रतों के स्वरूप का पृथक्-पृथक् निरूपण करके 'महाव्रत' नाम की सार्थकता को प्रकट करते हुए कहा गया है कि ये पांच महाव्रत चूंकि महान् अर्थ—जो मोक्ष है—उसे सिद्ध करते हैं, महान् पुरुषों के द्वारा उनका आचरण किया गया है, तथा स्वयं भी सर्वसावद्य के परित्यागरूप होने से महान् हैं, इसलिए वे महाव्रत कहलाते हैं।[2]

आगे वहां रात्रि-भोजन के परित्याग को महत्त्वपूर्ण बताते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि उन्हीं महाव्रतों के संरक्षण के लिए रात्रि में भोजन के परित्याग, आठ प्रवचन-माताओं और सब-पांचों व्रतों की पृथक्-पृथक् पांच-पांच (कुल २५) भावनाओं का उपदेश दिया गया है।[3]

आठ व तेरह भेद

इसी प्रसंग में वहां यह भी स्पष्ट किया गया है कि पांच समितियों और तीन गुप्तियों के परिपालन में साधु को परिणामों की निर्मलता के साथ सदा सावधान रहना चाहिए। इस प्रकार यह—पांच समितियों और तीन गुप्तियों रूप—चारित्राचार आठ प्रकार का जानना चाहिए।[4]

इसमें पूर्वोक्त पांच महाव्रतों को सम्मिलित करने पर साधु यह का आचार तेरह प्रकार का हो जाता है।

३. गुप्तियां

पांच समितियों का स्वरूप पीछे मूलगुणों के प्रसंग में कहा जा चुका है। यहां गुप्तियों के स्वरूप को स्पष्ट किया जाता है—

साधु सावद्य कार्य से संयुक्त मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को जो रोकता है, यह गुप्तिसामान्य का लक्षण है। मन को राग-द्वेषादि से हटाना, इसे मन-गुप्ति और असत्य-भाषण आदि से वचन के व्यापार को रोकना अथवा मौन रखना और हिंसादि में प्रवृत्त न होना, यह कायगुप्ति का लक्षण है। इन गुप्तियों से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का संरक्षण होता है, अथवा वे मिथ्यात्व, असंयम व कषायों से आत्मा का संरक्षण करती हैं, इसीलिए 'गुप्ति' यह नाम सार्थक समझना चाहिए। जिस प्रकार खेत (फसल) की रक्षा-वृत्ति खेत के सब ओर निर्मित बाढ़ या बारी करती है, तथा नगर की रक्षा खाई व कोट किया करते हैं, उसी प्रकार ये गुप्तियां साधु का पाप से संरक्षण किया करती हैं। इसीलिए कृत, कारित और अनुमत के साथ मन, वचन व काय योगों की दुष्प्रवृत्ति की ओर से सदा सावधान रहते हुए ध्यान व स्वाध्याय में प्रवृत्त रहने की साधु को प्रेरणा दी गई है। जिस प्रकार माता पुत्र के पालन में निरन्तर प्रयत्नशील रहती है, उसी प्रकार पांच समितियां और तीन गुप्तियां— ये आठों, मुनि के ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सदा रक्षा किया करती हैं, इसीलिए इन आठों का 'प्रवचन-माता' के रूप में उल्लेख किया गया है।[5]

कर्माश्रित तीन भेद

चारित्र मूल में दो प्रकार का है—देशचारित्र और सकलचारित्र।[6] (इनमें से इस लेख में देश या विकल चारित्र की विवक्षा नहीं रही है)। सकल चारित्र तीन प्रकार का है—क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक।[7]

क्षायोपशमिक—चार संज्वलन और नौ नोकषायों के देशघाती स्पर्धकों के उदय के रहते हुए जो चारित्र होता है, उसका नाम क्षायोपशमिक चारित्र है। इसका अभिप्राय यह है कि सर्वघाती स्पर्धक अनन्तगुणे हीन होते हुए देशघाती स्पर्धक स्वरूप में परिणत होकर जो उदय में आते हैं उनकी इस अनन्तगुणी हीनता का नाम क्षय है तथा देशघाती स्पर्धक स्वरूप से अवस्थित रहने का नाम 'उपशम' है। इस प्रकार के क्षय और उपशम के साथ रहने वाले उदय का नाम क्षयोपशम है। इस क्षयोपशम से होने वाले चारित्र को क्षायोपशमिक कहा जाता है।[8]

तदनुसार पूर्वोक्त पांच भेदों में सामायिक, छेदोपस्थापना और परिहारविशुद्धि—इन तीन को क्षायोपशमिक जानना चाहिए।

औपशमिक व क्षायिक—चारित्र मोहनीय—के उपशम व क्षय से जो चारित्र होता है उसे क्रम से औपशमिक व क्षायिक कहा जाता है। पूर्वोक्त पांच भेदों में सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र सूक्ष्मसाम्परायिक उपशामकों के औपशमिक और सूक्ष्मसाम्परायिक क्षपकों के क्षायिक होता है। उपशान्त कषाय संयत के औपशमिक (यथाख्यात चारित्र) और क्षीण-कषाय संयत के क्षायिक (यथाख्यात चारित्र) होता है।[9]

१. षट्खण्डागम—सूत्र—१/१/१२८ (पु० १)
२. मूलाचार ५/९७
३. मूलाचार, गाथा ५/९८, भावनाओं के लिए देखिए—मूलाचार ५/४०-४६ व तत्त्वार्थसूत्र ७/३-१२
४. मूलाचार ५/१००
५. मूलाचार, ५, १३४-३६
६. तत्त्वार्थसूत्र ७/२, रत्नकरण्ड० ५०, धवला पु० ६, पृ० २६८
७. धवला पु० ६, पृ० २८१
८. वही, पु० ७, पृ० ९२
९. वही, ७, पृ० ९४-९५

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org